सामाजिक निष्ठा की विफलता का महाआख्यान : बिस्रामपुर का संत

लक्ष्मी गुप्ता

लखीमपुर–खीरी, उत्तर प्रदेश

सदी के सीमान्त पर साहित्य के पहरूए खड़े हैं। स्वनियुक्त और चौकस। सदी का अस्त होना समय–सूर्य का अस्त होना नहीं हैं। हर सदी, हर युग में अपने समय को शब्द से गढ़ने वाले साहित्यकार अवतरित हुए हैं। अपने समय और वृहत्तर काल को साहित्यकार से बेहतर और कोई नहीं समझ सकता। श्रीलाल शुक्ल अपने समय के एक ऐसे ही महान व्यक्तित्व हैं, जिनके कृतित्व में पिछली अर्धशती का यथार्थ समाया हुआ है।

31 दिसम्बर 1925 में लखनऊ के मोहनलाल गंज के अतरौली गाँव के संघर्षशील परिवार में जन्मे तथा उत्तर प्रदेश की राज्य प्रशासनिक सेवा और बाद में प्रशासनिक सेवा के अन्तर्गत अनेक पदों पर कार्यरत रहते हुए वे 1983 में सेवानिवृत्त हुए। व्यंग्य हमारे समय की जरूरत है। श्रीलाल शुक्ल ने अपने समय की इस तासीर को बहुत शिद्दत से महसूस किया है। 1945 से 1954 तक लेखन की दृष्टि से मौन रहे श्रीलाल शुक्ल के मन के आँवे में और समय की आँच से कुछ तीखी–मीठी सच्चाइयाँ पक रही थीं। 1957 में "सूनी घाटी का सूरज" उपन्यास प्रकाशित हुआ और 1958 में "अंगद का पाँव" पहला निबंध संग्रह। इस तरह शुरू में ही इतने बड़े पैमाने पर व्यंग्य को उन्होंने अपनी रचनाओं के केन्द्र में रखा। यह हिन्दी साहित्य में पहला ही प्रयास था। व्यंग्य की व्यंजना से नागार्जुन ने जिस तरह अपनी कविता को पल्लवित किया है, उसी तरह व्यंग्य निबन्धों में हरिशंकर परसाई ने और कथा–लेखन में श्रीलाल शुक्ल ने उसका वैसा ही सर्जनात्मक इस्तेमाल किया है।

"सूनी घाटी का सूरज" से लेकर अपने नवीनतम उपन्यास "बिस्रामपुर का संत" तक श्रीलाल शुक्ल ने विस्तृत लेखन किया है। उनके कृतित्व की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता यह रही है कि हर कृति अपनी पिछली कृति से कथ्य और शिल्प के स्तर पर पृथक है बिल्कुल अलग छवि, अलग ऊर्जा और अपनी पृथक पहचान के साथ। "राग दरबारी" के लेखक श्रीलाल शुक्ल ने रहस्यपूर्ण अपराध–कथा पर आधारित "आदमी का जहर" उपन्यास का प्रभावपूर्ण सृजन किया है, जिसमें पारम्परिक जासूसी कथा साहित्य की विशिष्टताएँ तो हैं ही साथ ही यह कथा आज के हलचल ग्रस्त सामाजिक एवं राजनैतिक हालात का भी परिणाम है। 'सीमाएँ टूटती हैं' (1973) में धर्म–प्रेम और अपराध जैसी तर्कातीत वृत्तियों में बंधी हुई जिन्दगी अव्यवस्थित उलझाव से निरन्तर संघर्षरत दिखती है। अपराध कथा के प्रवाह वाली यह रचना वास्तव में व्यापक जीवन की कथा है। "अज्ञातवास" श्रीलाल शुक्ल की कोमलतम अनुभूतियों की कमनीय अभिव्यक्ति का एक सशक्त उदाहरण है, जिसमें व्यंग्य का ताप नहीं, संवेदनशील भाषा की तरह शीलता है। "मकान", "पहला पड़ाव", "राग दरबारी", और "बिस्रामपुर का संत" सभी उपन्यास ऐसे ही विविध विषयों को लेकर तथा व्यंग्य की तीखी विदग्धता से रचे गये हैं।

श्रीलाल जी ने अपने हर उपन्यास में कथ्य और शिल्प के स्तर पर नये प्रयोग किए हैं, हर बार उपन्यास का नया साँचा गढ़ा है। विषयवस्तु को हर बार नयी दृष्टि से सृजनात्मक

ढंग से समेटा है। आजादी के बाद पैदा हुए मोहभंग की अभिव्यक्ति, सच्चाई से रूबरू होने की अनुभूतियों का लेखन है। "सूनी घाटी का सूरज" का रामदास हो या फिर "मकान", "पहला पड़ाव", "राग दरबारी" का नायक हो सब अपने समय से सामना करने को बाध्य हैं। प्रेमचंद के युग का आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद इनके समय में आकर टूट जाता है और इस यथार्थ के आगे और कोई आदर्श नहीं टिक पाता है। अगर बाहर से टिका हुआ दिखता भी है तो वह महज उसका छदम् टिकाऊपन है वास्तविकता नहीं।

गुलाम भारत से लेकर आजाद भारत के बीच लिखे गये साहित्य की मुख्य धारा को यदि पकड़ने की कोशिश की जाये तो हाथ लगेगा कि पहले भी गाँवों की समस्याओं और मनोवैज्ञानिक जटिलताओं पर कथा– उपन्यास लिखे जाते थे और आज भी प्रभावशाली लेखन के रूप में उँगलियों पर वही कृतियाँ गणनीय हैं, जिनमें गाँव अथवा कस्बाई दुनिया की विस्तृत औपन्यासिक पड़ताल की गयी है। शेष आस्वाद परिवर्तन के लिए लिखा गया लेखन है। जिसकी तात्कालिक चर्चा भले ही हो जाए लेकिन दर्ज की जाने वाली अविस्मरणीय गुणवत्ता का उनमें प्रायः अभाव होता है।

प्रेमचंद से प्रारम्भ करके यदि हम नागार्जुन का 'बलचनमा', भैरव प्रसाद गुप्त का 'धरती, सती मैया का चौरा', गंगा मैया, श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' और अब उन्हीं के "बिस्रामपुर का संत" तक आते हैं तो उपन्यासों की इस श्रृंखला से गुजरने के बाद ऐसा स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि धरती को लेकर जमीन से जमींदारी के सारे जानलेवा और जानदेवा किस्सों को लेकर की गयी पूर्ण अभिव्यक्ति "बिस्रामपुर का संत" में होती है। गाँव की जमीन और ग्रामीण जीवन की समस्यायें कथाकारों का अपजीव्य रही हैं। जमींदारों के कब्जे की जमीन भूदान आंदोलनकारियों की चपेट में आने पर उस गाँव की जमीन का, और जमीन वालों का क्या हश्र होता है, इसका जीवंत दस्तावेज है "बिस्रामपुर का संत"। इस पूरी सदी में जमीन का सुख उन्हें नहीं मिला जिनके कंधों पर हल थे या जिनकी मुट्ठी में हल की मुठिया थी। सुख जमींदारों को हासिल था या भूदान आंदोलनकारियों या फिर नये किस्म के अपराधी तत्वों को; जिसको बहुत सरलता से या यूँ कहें सहजता से श्रीलाल जी ने "बिस्रामपुर का संत" में उजागर किया है – *"कुछ दिन पहले दुबे महाराज से अपने खेतों का कब्जा छीनने के लिए बिस्रामपुर के किसानों ने लाठी का सहारा लिया था। वहाँ के ग्रामदान के इतिहास की यह भयानक विडंबना थी। सर्वोदयी मूल्यों के इस ह्रास से उन्हें झटका लगा था।"* इस तरह जमीन से जुड़ी इस कथा को श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास "बिस्रामपुर का संत" इस शिद्दत से उधेड़ता है कि हम भारत भू के इस दुखद हश्र से स्तब्ध हो जाते हैं। प्रेमचंद से लेकर आज तक के उपन्यासकारों के सामने भूमि–व्यवस्था का सवाल मुख्य रूप से उठता चला आ रहा है। स्पष्ट है कि ग्राम जीवन की नाभि भूमि–व्यवस्था से जुड़ी हुई है। एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। युग की मूलभूत समस्या और सच्चाई को रेणू ("मैला आँचल" और "परती परिकथा") के नायक जिस प्रकार अंधविश्वासों के विरूद्व वैज्ञानिक सोच के जिस दरवाजे पर ले जाकर खड़ा करते हैं श्रीलाल शुक्ल उस सोच को उससे कई कदम आगे ले जाते हैं। रेणू के नायक के मन का आदर्शवाद किस तरह से समय के हाथों फिसल कर टूट चुका है, उसे सर्वोदयी कार्यकर्ताओं की गतिविधियों में प्रकट हुआ प्रदर्शित करते हैं।

"बिस्रामपुर का संत" में सभी नागरिक और प्रतिनिधि चरित्र हैं। प्रभास भाई हों या धीरज सिंह, राम लोटन हों या दुबे जी, मंत्री हों या

इंस्पेक्टर, सुंदरी हो या सुशीला, विवके हो या निर्मल भाई या फिर स्वयं कुँवर जयंती प्रसाद ही क्यों ना हो श्रीलाल शुक्ल एक सक्षम 'नैरेटर' की तरह बाहर का चाक्षुष अंकन कर रहे हों या मन की जटिल ग्रंथियों का आंतरिक अनुशीलन–हर जगह उनके लेखन की पहुँच है। उपन्यास के प्रथम पृष्ठ में ही सूत्रात्मक ढंग से कुँवर जयंती प्रसाद सिंह के चरित्र का दोहरापन खुल जाता है – *"सपने में वे यकीनन अस्सी साल के नहीं थे। उम्र के बारे में कुछ भी तय नहीं था। पर शायद वे पच्चीस–छब्बीस साल पहले वाले कुँवर जयंती प्रसाद सिंह थे। आज के सपने में वह उनकी बाँहों में नहीं थी, वे खुद उसकी बाँहों में थे। पर तय नहीं था कि वह कौन थी।"*

हर उपन्यासकार का अपना दृष्टिकोण होता है। उसके उपन्यास में एक ऐसा प्रस्थान बिन्दु होता है जिसके बहाने हम समय और समाज का जायजा लेते हैं। "कथादेश" (नवम्बर 1997 अंक) में "मैं और मेरा समय" के अन्तर्गत श्रीलाल जी का कहना है– *"भले ही काल मुझमें जीता हो, व्यवहार में मैं स्वयं काल में जी रहा हूँ। इसलिए "मैं और मेरा समय" की जगह "समय और मैं" कहना मुझे अपनी हैसियत के ज्यादा नजदीक लगता है।"* अपने इसी दृष्टिकोण के साथ श्रीलाल जी ने उपन्यास लेखन किया है, वह चाहे 'राग दरबारी' हो या 'बिस्रामपुर का संत'। 1948 तक आते–आते जंगल और बाग कटने लगे थे। जंगल कटने का प्रमुख कारण उत्तर प्रदेश का भूमि–उपयोजन अधिनियम था 'लैंड यूटिलाइजेशन एक्ट'। इसके कारण गाँव में उथल–पुथल हुई। राजनैतिक संस्थाओं की सांस्कृतिक निरक्षरता उसी के साथ सत्ता में उन्हीं संस्थाओं का प्रचंड वर्चस्व और सारे समाज में विज्ञान और तकनीकी एवं उनसे पनपे संचार माध्यमों का आतंक उनका खुलकर दुरूपयोग और उपभोक्ता अपसंस्कृति की ललक, सबका इस उपन्यास में चित्रण हुआ है। सरकारी नौकरी में धंसे होने के कारण बतौर "इनसाइडर" श्रीलाल जी के सामने सुविधाओं की जगह अनेक खंदक खाईयाँ थीं, जिन्हें वे अपने सृजनात्मक लेखन में साधक नहीं बाधक मानते रहे है। यथा–*"यहाँ बात सरकारी नौकरी की ही नहीं, उन सब प्रतिष्ठानों के सम्बन्ध की है जहाँ व्यक्ति को निर्धारित आचरण का, पूर्वानुभव और पूर्वदृष्टान्तों पर आधारित किसी खास चिंतन परम्परा का अनुसरण करना होता है। जो दिन भर एक ऐसी भाषा और शब्दावली का प्रयोग करता है जिसके शब्द बरसों के इस्तेमाल से अपनी सारी सम्भावनाएँ खो चुके हैं। जिसका सारा चिन्तन और आचरण निर्दिष्ट पद्धति और दृष्टान्त का पिछलगुआ हो, जिसकी धारणाएँ और विवेक पूर्वानुभव से या किसी ऊपरी सत्ता में अनुशासित हों, वह धीरे – धीरे अपने व्यक्तित्व में उन तत्वों को आत्मसात करेगा ही जो बुनियादी तौर पर अच्छे सृजनात्मक लेखन के खिलाफ है। बहुत दिनों तक इन अन्तर्विरोधी तत्वों में तालमेल बिठाने की कोशिश भले ही की जाये पर रास्ते के मोड़ पर मीडियाक्रिटी के दलदल का खतरा बराबर बना रहता है। तब वे स्थितियाँ, जिनसे किसी विस्फोट की सम्भावना निकल सकती थी, सिर्फ फाइल और कापी के प्याले पर होने वाली बहस का हिस्सा बन जाती है। कुव्यवस्था से चिपके रहने के कारण उसे व्यवस्था का सहज अंग मानने की आदत पड़ जाती है।"* इस खतरे के साथ–साथ अपने लेखन में श्रीलाल जी अपने समय के हस्तक्षेप से एक दूसरे के जोखिम को भी अनुभव करते हैं। यथा–*"वास्तविकता इतनी जटिल और भयावह है आप उसे शब्दों में चाहें जितना बाँधने की कोशिश करें वह उन पर भारी पड़ती है। भ्रष्टाचार, हिंसा की आतंक विभीषिका आदि के बारे में हम अपनी कल्पना को दुत्कार देते हैं।"*

श्रीलाल जी का उपन्यास "राग दरबारी" यद्यपि सन् 1968 में लिखा गया लेकिन ऐसा

लगता है कि आजादी के तीस वर्षों के लंबे अन्तराल के बावजूद आज भी हर कस्बा "शिवपालगंज" है। यदि कहा जाए कि विलायती तालीम में पले जनतन्त्र के परिणाम का खुला खेल है "राग दरबारी" तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। 'व्यंग्यात्मक एप्रोच' उनके द्वारा बरती गई कथा तकनीक का मुख्य आधार है। शिवपालगंज से लेकर दिल्ली तक सत्तालोलुप, धनलोलुप लोगों की तिकड़मी और भ्रष्ट चालों का उद्घाटन है। किस तरह से सरकारी योजनाएँ भ्रष्टाचार का उत्स हैं। नैतिक मूल्यों का ह्रास हमारे जीवन की सबसे बड़ी विंड़बना है, फिर चाहे वे धर्म के, जाति के, अर्थ के, संबंधों के, व्यवस्था के नैतिक मूल्य ही क्यों न हो। 'राग दरबारी' नैतिक मूल्यों के ठहराव का उपन्यास है जिसका एक्सटेंशन 'बिस्रामपुर का संत' में अभिव्यंजित है। कहना न होगा कि ये दोनों उपन्यास व्यंग्य की सृजनात्मकता और विसंगतियों का प्रामाणिक दस्तावेज हैं।

इन दिनों आए उपन्यासों में एक सिरा विनोद कुमार शुक्ल का है, जहाँ "दीवार में एक खिड़की रहती थी" जैसे अमूर्त उपन्यास हैं। जिनका कथ्य और शिल्प अति अमूर्त और काल्पनिक सा लगता है तो दूसरे सिरे पर श्रीलाल जी का उपन्यास 'बिस्रामपुर का संत' या मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास "चाक" या अलका सरावगी का उपन्यास "कलिकथा" आदि हैं। साहित्य को, उपन्यास को, कभी कला प्रतिमानों के आधार पर, कभी यथार्थगत प्रतिमानों के आधार पर परखने की कोशिश की जाती है, लेकिन उस कृति को उसी के ढाँचे में नहीं जबकि हर कृति अपना साँचा लेकर स्वयं प्रकट होती है। वह फिर साँचा चाहे संवेदना का हो या शिल्प का। विनोद कुमार शुक्ल के ही "नौकर की कमीज" और मनोहर श्याम जोशी के "कुरू–कुरू स्वाहा" उपन्यास में देखें तो यथार्थ अपने ताप के साथ नहीं उतर पाया है। तकनीक स्तर पर और उपन्यास तकनीक के नूतन प्रयोग के स्तर पर 'बिस्रामपुर का संत' इनसे कहीं ज्यादा अनूठी और बिल्कुल अलग कृति अनुभव होती है, जिसमें श्रीलाल जी के अब तक सृजनात्मक उपलब्धियों का सार्थक उपयोग दिखायी पड़ता है। उपन्यासों की सरसता और व्यंग्य निबंधों की तलखी का विनियोग अपने चरम उत्कर्ष पर प्रदर्शित है। नयी सदी में प्रवेश के लिए प्रस्थान बिन्दु के रूप में इसमें वे सारी गुणात्मक कोशिशें और अभिव्यक्ति कौशल का चरम समाहित है जो आने वाले युग के लिए उपन्यास लेखकों के लिए एक 'लाइट–हाउस–सा' है।

'बिस्रामपुर का संत' का परिवेश यों तो बिस्रमपुर तक ही सीमित है परन्तु उसकी चेतना का विस्तार भौगोलिक हदों को तोड़ते हुए व्यापक रूप में स्वतंत्रता के बाद उपजी हमारी सामाजिक मानसिकता के उस छोर से जा टकराता है जो मूल्य–मूढ़ता की खाद पर पनपी है। उच्चकोटि की दुर्लभ सर्जनात्मका और लेखकीय दृष्टि की व्यापकता का परिवेश ही रचना को इतने व्यापक धरातल पर उठाते हुए हमारी मूल्यहीनता और चारित्रिक विघटन की सम्पूर्ण मानसिकता को अर्न्तमुक्त कर सकता है। सदी के उत्तरार्ध में हिन्दी के शायद ही किसी उपन्यास ने हमारी अवांछनीय शक्तियों के उदय तथा नपुसंक, पलायनवादी और ह्रासोन्मुखी बौद्धिकता की इतनी यथार्थवादी और मुकम्मल पड़ताल की हो। जीवन यथार्थ के समानान्तर अपने परिवेश की यह कृति निर्मम व्याख्या करती है –*"नया सत्तातंत्र, नये खून की माँग कर रहा है। कई ताकतवर बूढे हैं जो बरसों से देश के थैलीशाहों की निगाहों में सत्ता के प्रतीक बन रहे थे। वे अचानक थैलियाँ वसूलने की राजनीति के बावजूद, थैलीशाही का विस्तार होने पर भी, निरर्थक होते जा रहे हैं।"* 'बिस्रामपुर का संत' उपन्यास में एक ओर भूदान आंदोलन का इतिहास है, जिसमें उसके गुण और दोष पात्रों के

द्वारा विश्लेषित हैं। दूसरी ओर भूदान आंदोलन संबंधी कार्यों के बीच से ही सर्वोदयी, गांधीवादी और भूदान आंदोलन कार्यों के 'लाइफ कल्चर' की भी 'ट्रुथ एनालिसिस' है। कुँवर जयंती प्रसाद सिंह के द्वारा एक प्रौढ़ बिलासी पुरूष मन के मनोभावों और मनोविकारों की मुख्य जटिलताओं का सरल विश्लेषण है। जयश्री, सुंदरी और सुशीला के द्वारा उनके मन के अंतरंग आत्मसंघर्ष और अतृप्त भोगेषणाओं को भी मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है जिसके द्वारा लेखक ने एक ओर तो 'बिस्रामपुर के सन्त' का जीवन–रहस्य और कार्य–निष्ठा को उजागर किया है तो दूसरी ओर उपन्यास की सरलता और प्रभावशीलता को बचाया है। कहना न होगा कि आजादी के बाद एकमात्र आंदोलन भूदान आंदोलन के रेशे–रेशे को उधेड़ने के साथ–साथ मानव मन की कुंठाओं और जटिल वासनाओं को भी उजागर किया है। इस तरह से दोनों भावभूमियों की कथाएँ एक साथ समानान्तर विकसित होती हैं। घोर यथार्थवादियों के समर्थकों ने भी "सुपरियलिज्म" की जिस सीमा का निर्वाह किया है, अपनी बेबाक अभिव्यक्ति से श्रीलाल जी ने इसका निर्वाह साधा है। बिस्रामपुर पर दृष्टि टिकाकर सारे देश में भूदान आंदोलन की क्रिया–प्रतिक्रिया तथा इससे जुड़े लोगों का चरित्रान्वेषण और उद्‌घाटन इस उपन्यास का लक्ष्य है। आजादी के बाद सामन्ती व्यवस्था तो खत्म हुई, किन्तु हमारी पारम्परिक सामन्ती प्रवृत्ति का अन्त नहीं हुआ। आज सत्ता के विकेन्द्रीयकरण के नाम पर जहाँ कहीं भी सत्ता और शक्ति का केन्द्र है, यह भूदान आंदोलन हो या कोई भी गाँधीवादी आंदोलन उसका प्रभाव प्रायः जटिल और कुटिल है। श्रीलाल शुक्ल इस संकट की राजनीति का पूर्ण सामाजिक इतिहास और भूगोल चिन्हित करते हैं। 'राग दरबारी' में लेखक ने आजादी के बाद गाँवों के अविकसित रहने के कारणों को खोला परखा है तो वही 'बिस्रामपुर का संत' भूदान आंदोलन की नाकामयाबी के कारणों को खोजता–तलाशता है। सामन्त शाही का सरकारी संस्करण अफसरशाही है। मंत्री, नेता, राज्यपाल और आंदोलनकारी कोई किसी से कम नहीं है। यथा–"इंस्पेक्टर ने उन्हें शिकायती पत्र दिखाया। प्रभास भाई ने लिखा था कि आश्रम के प्रार्थना गृह में अखिलेश्वर दुबे नामक गुंड़े ने उद्यम मचाया और भूतपूर्व राज्यपाल परमपूज्य कुँवर जयंती प्रसाद सिंह की ओर बंदूक तानकर उन्हें जान से मार देने की धमकी दी। अब परमपूज्य कुँवर साहब ही के लिए नहीं, आश्रम के हर व्यक्ति को उक्त गुंड़े से जान का खतरा है।"

"बिस्रामपुर का संत" सर्वोदयी गाँव, ग्रामदान से निर्मित गाँव का कटुतम ही नहीं अत्यन्त कटु चित्र भी प्रस्तुत करता है। जहाँ सारी परम्पराएँ क्षीण हो चुकी हैं, सारे मूल्य जड़ हो चुके हैं, सारी मर्यादाएँ बिखर चुकी हैं। यथा–" कुँवर जयंती प्रसाद सिंह ने कहा – "देखिए, इस मामले को आगे बढ़ाने में मेरी दिलचस्पी नहीं है। प्रसाद भाई की रिर्पोट बिल्कुल सही है। फिर भी मैं इस मामले को अदालत तक नहीं ले जाना चाहता हूँ। हम लोग यहाँ एक गाँधीवादी संस्था चला रहे हैं। यह अहिंसा और भाई चारे के सिद्धान्त पर खड़ी हुई है। हम नहीं चाहते कि यहाँ बदले की भवना पनपे। आप दुबे महाराज को आज ही छोड़ दें।" उपन्यास में गाँधीवादी दर्शन और भूदान आंदोलन की राजनैतिक, सामाजिक परिवेश की दलदल में ठहरी फँसी हुई सड़ाँध है। इस दृष्टि से उपन्यास कूटहीनता के ठहराव की कथा मात्र है। वह फिर राजनीति हो या कोई विचारधारा या फिर भौतिकवादी जीवन..... . "फिर भी उनमें एक मानसिक विलासिता बची थी; जिसे लगभग आधी शताब्दी बीत जाने पर भी वे नहीं छोड़ पाये थे। उनके सारे प्रेम प्रसंग रात के अंधेरे, घबराहट और अंतरवासना के साथ जुडे थे। इस अतृप्ति और उत्कंठा के साथ बाद में उनका एक दिवास्वप्न जुड़ गया।"

कुँवर जयंती प्रसाद सिंह की सामंतशाही के अतिरिक्त लेखक की सूक्ष्म दृष्टि से अवांतर प्रसंगों के माध्यम से दिनचर्या में व्याप्त असंगति–विसंगतियों की बखिया उधेड़ती अनेक कथाएँ चलती हैं। जिनमें सुन्दरी और सुशीला प्रसंग, विवके और निर्मल भाई की भूमिका, प्रभास और धीरज का योगदान और अन्यान्य घटनाएँ इसके अन्तर्गत प्रवाह में दिखायीं देती हैं। यथा–"बत्तीस साल पहले की सस्ती खादी पहनने वाले एक छरहरी समाज सेविका की जगह वह अब प्रौढ़ और सम्पन्न महिला जैसी दिख रही थी। आचार्य विनोबा भावे के आंदोलन में धूल फाँकने वाली यह पहले वाली सुशीला नहीं थी। यह परिवर्तन सिर्फ चाक्षुष ही नहीं बल्कि आचार्य विनोबा भावे, वर्धा, पवनार आश्रम, भूदान आंदोलन की प्रगति उसकी मौजूदा स्थिति सबके बारे में सुशीला के उत्तर बहुत संक्षिप्त और अनमने से थे।"

वस्तुतः "बिस्रामपुर का संत" का उद्देश्य भूदान आंदोलन कार्यों की वास्तविक स्थिति इससे जुड़े सर्वोदयी और गांधीवादी चरित्रों का उद्घाटन और उनका ब्यूरोक्रैसी या सत्ता से सम्बन्धों की जोड़–गाँठ को और ग्रामदान व भूदान वाले गांवों की दुर्दशा तथा व्यवस्था की विकृति का उद्घाटन करना रहा है। यथा –"भूमिहीनों को भूमि देने का कोई अर्थ नहीं है अगर वे आत्म निर्भर न बन सकें।"

स्वतंत्रता के बाद इस देश की ज़मीन से जुड़ा भूदान आंदोलन पचास वर्षों की ऐतिहासिक सच्चाई है। इस दृष्टि से यदि कहा जाये तो श्रीलाल जी ने अपने काल का ऐतिहासिक अन्वेषण करते हुए उसका सजृनात्मक उपयोग किया है। भूदान आंदोलन का लक्ष्य है कि गाँव में कोई भूमिहीन ना रहे और ग्रामदान का लक्ष्य है कि गाँव में कोई भू–स्वामी न रहे। भूमि उसी की होनी चाहिए जो उसका समुचित उपयोग कर सके, भूमि सामूहिक रूप से गाँव की होनी चाहिए। विनोबा जी ने बाद में ग्रामदान के स्वरूप में भी परिवर्तन किया। उन्होंने व्यवस्था दी कि जहाँ लोग अपनी पूरी जमीन का दान करने के बजाय अपनी जमीन का पांच प्रतिशत भी भूमिहीनों को देते हैं और शेष भूमि की मिल्कियत गाँव संस्था को समर्पित कर दी गयी है तो उसे भी ग्रामदान माना जायेगा। विनोबा जी का यह आंदोलन इस शताब्दी के छठे और सातवें दशक में सशक्त आंदोलन के रूप में विकसित हुआ, वैसे भूदान यज्ञ का सबसे महत्वपूर्ण चरण छठे दशक का है। यथा–"आचार्य विनोबा भावे मामूली संत नहीं है। उन्होंने भूदान आंदोलन नाम के हथियार को ईजाद किया है। उसके पहले ही बार में एक तरफ तेलंगाना में साम्यवाद अधमरा होकर गिर गया दूसरी तरफ बिहार और उत्तर प्रदेश में गांधीवाद के हाथ–पाँव टूट गये।" व्यंग्य के तेवर को उपन्यास के विशाल कलेवर में निभा ले जाने के कारण भी यह रचना उल्लेखनीय है। इस उपन्यास की एक यह भी विशेषता है कि व्यंग्यात्मक टिप्पणी की जब जहाँ जैसी जरूरत पड़ी लेखक नहीं चूका है और इनके रचे पात्र झिझके हैं। यथा–"वे सुशीला की ओर देखते रहे, बोले, "बता सकती हो, भूदान यज्ञ के प्रति तुम्हारा मोहभंग कैसे हुआ?" कैसा मोहभंग? उसने तेजी से उनकी बात काटी, "वह तो वहाँ होगा जहाँ मोह हो। पर मैं किसी मोह से भूदान आंदोलन में नहीं गयी थी। मन में एक तर्कनिष्ठ विश्वास था।"

इतना ही नहीं, उनकी दृष्टि देश की स्थिति पर निर्भीक रूप से टिप्पणी करने से नहीं चूकती। यथा– "हिंसा ने सिर्फ हिंसा को बढ़ाया है। मूल व्यवस्था ज्यों की त्यों है। उधर सरकार के पास हर सामाजिक विकृति का सिर्फ एक इलाज है। कानून कुप्रवृत्तियों से प्रेरित व्यक्ति जब हमारे तंत्र को तोड़ने लगता है तो हम उसे न ही समझना चाहते हैं और न ही बदलना चाहते

हैं। हम तंत्र के भीतर ही जोड़—गाँठ शुरू कर देते हैं। तभी अगर हम देश में अलगाव या टूटन के संकेत देखते हैं, वर्ग—संघर्ष या जातिवाद को बढ़ता हुआ पाते हैं। "इस तरह श्रीलाल शुक्ल ने देश को कमजोर करने वाली शक्तियों और दृष्टिकोण के सूत्रों को भी उजागर किया है। हमारी नौकरशाही की सड़ियल प्रतिक्रियावादी और सामन्ती मानसिकता के अनेक स्तर इस कृति में उभारे गये हैं।

समाज और जीवनव्यापी विसंगतियों के सत्य की कुरूपता को चिन्हित करने के लिए भूदान आंदोलन की धड़कनों वाली इस कृति में खरोंच लगाने वाले बिस्रामपुर के अनेक विद्रूप चेहरों को विशदता के साथ उभारा गया है। बिस्रामपुर के भूगोल और इतिहास में "क्राइसिस ऑफ वैल्यूज" और "क्राइसिस ऑफ करैक्टर्स" को जानने—पहचानने के सरोकार से कुछ प्रमुख पात्रों के द्वारा हमारी समकालीन सच्चाई को प्रभावी एवं सटीक ढ़ंग से अनावृत्त किया गया है। प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त और उसका क्रियान्वयन अपने प्रतिफलन में अर्थहीन हो गया है, यह कृति उसी की एक मिसाल है। रचनात्मकता के अपने दृष्टिसंपन्न व्यंग्यात्मक स्ट्रोक से हमारे खोखले, विवश, विकलांग, भ्रष्ट और अर्थहीन हो जाने की नियति वाले इस प्रजातंत्र की सम्पूर्ण अर्थवत्ता एंव सार्थकता को रेखांकित करती है। इस कृति में समकालीन भारतीय चिन्तन और बौद्धिकता की खुलकर खबर ली गई है। यथा— "उन्होनें समझाया कि मार्क्सवादी जिस प्रकार से मार्क्स को प्रस्तुत करते हैं, वह उनका असली स्वरूप नहीं है और यही बात गांधी के साथ है। गांधीवादियों ने भी गांधी के विचारों को प्रायः ठीक से नहीं रखा है। जिसे आज मार्क्सिज्म या गांधीज्म कहा जाता है, उस संज्ञा से घबराते थे।"

"राग—दरबारी" तक आते—आते समसामयिक सामाजिक, राजनीतिक व प्रशासनिक गतिविधियों पर टिप्पणियाँ उनके उपन्यासों का अंग ही बन गयी थीं, लेकिन "बिस्रामपुर का संत" में लेखक ने अपने समय की स्थितियों को प्रभावशाली ढंग से उजागर करने के लिए सार्थक ढंग का ट्रीटमेंट किया है यह इस सदी के अन्त का प्रतिनिधित्व करने वाला और आगे की सदी के लिए दिशा—निर्देशक का कार्य कर रहा है। किसी वैचारिक आंदोलन से जुड़ा हिन्दी का संभवतः यह पहला गंभीर उपन्यास है, जिसमें व्यंग्य की मार ही नहीं बल्कि सार्थक तथ्यान्वेषी दृष्टि भी शामिल है।

"बिस्रामपुर का संत" में एक ओर तो व्यवस्था के शीर्ष पर सुख का चरम जीने वाले अनेक विलासिताओं में डूबे कुँवर जयन्ती प्रसाद सिंह की मनोग्रंथियों का विश्लेषण और, प्रणय के छल—छद्म का उद्‌घाटन है। आश्रम में भी उसकी वासनाओं का कीड़ा किस तरह उन्हें बेचैन बनाये रखता है, जयश्री से लेकर सुंदरी और सुशीला के साथ उसके प्रणय राग के अनेकानेक किस्से दूसरी तरह के शोषण के दमनचक्र रहस्य उद्‌घाटित करते हैं और अन्त में वो हर जगह पश्चाताप और लज्जा से ग्रस्त दिखायी देते हैं। दूसरी ओर "भूदान" आंदोलनकारियों की सक्रियता और निष्ठा दिखावटी छद्म है। इस तरह यूँ कहें "भूदान आंदोलन बनात भोग आंदोलन" के ताने बाने से रचा यह एक सशक्त उपन्यास है। भोग विलासिताओं में जीने वाले कुँवर जयन्ती प्रसाद सिंह को आश्रम में गिरे हुए बच्चे को उठाने में जिस मानवीय संस्पर्श की अनुभूति होती है, वह अद्‌भुत है। यथा—" अचानक उन्हें एक नये स्पंदन का अनुभव हुआ। ऐसा अनुभव जिसे ये बिलकुल ही भूल गये थे। यह चमत्कार जैसा था। बिस्तर, कुर्सी, कागज, प्याला, गिलास छूने वाली मृतप्राय उँगलियों में स्वस्थ रक्तप्रवाह को उद्‌घाटित करने वाला यह मानवीय स्पर्श का भूला बिसरा अनुभव था वे उसे बच्चों की तोतली बोली में पुचकारने लगे। यह एक सर्वथा भूली हुई बोली थी जो

उनकी जमीन पर उन्हें बिल्कुल नहीं जान पड़ी। उन्हें लगा कि यही उनकी मूल भाषा है, यह उनकी आदिम बोली है जो शताब्दियों बाद उनके मुँह से निकली है। जबान की नोक पर उन्होंने उसकी उत्तेजक मिठास का अनुभव किया।" भूदान आंदोलन का ऐतिहासिक दस्तावेज देते हुए वे लिखते है– "1950–51 में साम्यवादियों के नेतृत्व में तेलंगाना में भूस्वामियों के खिलाफ किसानों का आंदोलन चल रहा था। इस पृष्ठभूमि में एक दिन आचार्य विनोबा भावे तेलंगाना की पदयात्रा पर निकले। 18 अप्रैल 1951 को पोचम पल्ली पहुँचने पर उन्होनें छोटे किसानों और खेतिहर मजदूरों की दारूण स्थिति के सुधार के लिए भूदान आंदोलन की अवधारणा दी।" इसके साथ–साथ वे विनोबा का चरित्र भी उद्घाटित करते हैं। यथा– मुझें याद पड़ता है कि गीता प्रवचन की प्रति मुझे स्वयं आचार्य विनोबा भावे ने दी थी। उस पर उनके हस्ताक्षर थे। विनोबा भावे की मत्यु के संदर्भ में सुशीला कहती है–" उनके लिए जैसे जीवन एक महोत्सव था, वैसे ही मरण भी। 'ईशावास्य उपनिषद' का विनोबा जी ने जो भावपूर्ण अनुवाद किया है वह सब हम लोगों को याद था।"

श्रीलाल शुक्ल ने उपन्यास में एक जटिल कथ्य को अपने लेखन कला की कुशलता से बहुत प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया है। 205 पृष्ठों के सीमित पृष्ठों में एक ओर मानसिक जटिलताओं का उद्घाटन है तो दूसरी ओर भूदान आंदोलनकारी और सत्ता की कुरूपताओं का अनावरण है। देश सेवा की सबसे बड़ी योग्यता आज तिकड़मी होना है। हमारे समाज का यह सत्य रचना में सर्वत्र यर्थाथवादी धरातल पर बड़े ही सशक्त ढंग से उभारा गया है। हमारे देश का एक बड़ा वर्ग जो सरकार को चूस रहा है और उसकी कीमत पर फूल–फल रहा है। यह हमारे प्रजातन्त्रीय मूल्यों का चमत्कार है। यहीं आकर जनतन्त्र के सारे मूल्य धराशायी और अवमूल्यित हो जाते हैं। उपन्यासकार अपनी रचनात्मकता के कई कोणों से ऐसे अनेक प्रश्नों को उभारता है जो हमारे लिए विस्मयकारी है। "बिस्रामपुर का संत" में परिवेश की व्यापकता है और सामाजिक विकृतियों से भरे स्वरों की उपस्थिति है। यथा–"ट्रेजेडी क्या होती है, जानना हो तो इतिहास में बहुत पीछे जाने की भी जरूरत नहीं है। यहूदियों पर हिटलर के अत्याचारों का इतिहास पढ़ो, भारत–पाक बँटवारे के समय के भयानक नरसंहार और दूसरे अपराधों की याद करो या उसके कुछ ही साल पहले का बंगाल का अकाल या बाद का वियतनाम युद्ध। यह ट्रेजडी है। भूकंप या ज्वालामुखी के उत्पात की तरह हम उन्हें भगवान के माथे नहीं मढ़ सकते, इन्हें हमारी ही पशुता ने रचा है।

और तुम्हें व्यक्तिगत ट्रेजडी चाहिए? तो सुनो, इस वक्त जब आराम से हम इस वातानुकूलित कमरे में गपशप कर रहे हैं, ठीक इसी वक्त इसी देश में न जाने कितनों की हत्या हो रही होगी, कितनी मासूम बच्चियों को कोड़े मारकर वेश्या बनाया जा रहा होगा, न जाने कितने बलात्कार हो रहे होंगे, कितने बच्चों के हाथ–पाँव तोड़कर उन्हें अपाहिज बनाकर माँगने के लिए मजबूर किया जा रहा होगा। ट्रेजडी को लेकर अब मुझसे कभी हल्की बात मत करना।"

"बिस्रामपुर का संत" अपने कथ्य की अभिव्यक्ति के सम्प्रेषण में कलात्मकता को अक्षुण्ण बनाए हुए है। इस जोखिम भरे रचाव की अहमियत के लिए रचनाकार की श्रेष्ठता की अनदेखी नहीं की जा सकती है। कथ्य की परिणति और प्रेषणीयता की बुनावट और बनावट में लेखक समर्थ और सफल है। मूल्य विघटन और तज्जन्य बढ़ते भ्रष्टाचार को लेखक ने कुशल दृष्टि से उभारा है। वह आंदोलन का भ्रष्टाचार हो या आश्रम का या फिर मानव–मन का ही क्यों न हो?

"बिस्रामपुर का संत" पहली बार अपनी बुनावट में औपन्यासिक परम्परा की तकनीक को रगड़ता, दरेरता, खिसकता, झकझोरता एक नये रचनातंत्र का सफल प्रयास एंव संरचनात्मकता की नई दिशा का संकेत है। रचना के हर डिटेल्स में सूक्ष्म दृष्टि संगुम्फित है और जब वह अपनी अर्थान्विति में खुलता है तब अपनी सम्पूर्ण प्रभात के साथ। अस्तु, भूदान आंदोलन के इतिहास का अन्वेषण कर उसका रचनात्मक उपयोग साहित्यिक जगत के लिए एक महती उपलब्धि है। समाज की प्रगतिवादी और विकासोन्मुखी चेतना का ह्रास हमारी चिन्ताओं को गहरे तक कुदेरता है। स्वार्थलोलुपता, पतनोन्मुखी सामाजिक शक्तियाँ किस प्रकार हमारे मूल्यों, पवित्र सामाजिक मर्यादाओं की जड़ों में घुन की तरह लग कर उसे खोखला कर रही हैं। इसका बड़ा निर्मम चित्र यहाँ प्रस्तुत है। कथन–कौशल के कारण बिना किसी सीमा को तोड़े या यूँ कहें सीमाओं में रहकर सत्य को उसके वास्तविक रूप में प्रकट करना श्री लाल शुक्ल द्वारा ही सम्भव है। "बिस्रामपुर का संत" का परिवेश यूँ तो सीमित है लेकिन उसमें विनोबा जी के आंदोलन का पूरा वृतान्त समाहित हैं। मसलन कितने स्थानों पर रात्रि पर विश्राम किया, कितने लोगों को सम्बोधित, कितने एकड़ भूमि दान के लिए मिली, कितने गांव ग्रामदानी बने आदि–आदि।

"बिस्रामपुर का संत" औपन्यासिक परम्परा की सीमाओं को तोड़ता हुआ अपनी शिल्पगत प्राविधि की टोन में व्यंग्यात्मकता की नवीनता के कारण सर्जनात्मकता के नये प्रतिमान निर्मित करता है। "मैजिकल रियलिज्म" और "माइक्रोरियलिज्म" के ताने–बाने से निर्मित यह उपन्यास कथ्य और शैली दोनों ही दृष्टियों से नवीनता से संपन्न है। लेखन की नई तकनीक से निर्मित यह उपन्यास आज के अनेक उपन्यासों को पीछे छोड़ जाता है। चरित्रों की अधिकता और विविधता के कारण घटनाओं की व्यापकता और विशालता के कारण प्रेमचंद के 'गोदान' के बाद श्रीलाल शुक्ल का "राग–दरबारी" और अब "बिस्रामपुर का संत" "एपिक नावेल" की कोटि में दर्ज होता दिखायी देता है।

इस सदी के आदि के छोर पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की "अन्धेर नगरी" और मध्य में धर्मवीर भारती का 'अन्धा युग' तथा सदी के उत्तरार्ध में श्रीलाल शुक्ल का "राग–दरबारी" और सदी के अन्त में अब "बिस्रामपुर का संत" जैसे उपन्यासों की तुलना में अपने समय के उत्तरार्द्ध की मार्मिक अभिव्यक्ति श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' और "बिस्रामपुर का संत" से ही हासिल हुई है। अपने दोनों ही उपन्यासों का आपरेशन और ट्रीटमेन्ट जिस बेहतरी से श्रीलाल शुक्ल जी ने किया है, वह प्रभावशाली और मार्गदर्शी है।

आश्चर्य है कि 1957 से 98 तक चालीस वर्षो तक लगातार लेखन करने के बावजूद तथाकथित विश्वविद्यालयों की समीक्षकीय दृष्टि "राग–दरबारी" उपनयास के बाद ही खुली जबकि इससे पहले उनके अनेक उपन्यास और कहानियाँ तथा निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। लेखकीय दृष्टि से समपन्न.... अपने समय की अभिव्यक्ति करने की कोशिश से भरे श्रीलाल शुक्ल जी की लेखनी की तासीर की अनुभूति लोगों को देर से हुई। कभी–कभी लगता है कि इसका कारण कहीं उनका विश्वविद्यालयी अध्यापक न होना या किसी साहित्यिक संगठन या राजनीतिक पार्टी से सम्बन्ध न होना या प्रायोजित किस्म के आंदोलनों और आयोजनों में न शामिल होना तो नहीं है। कुछ भी कारण रहा हो लेकिन अपने समय के इतिहास को बनाने को ही नहीं, सुधारने का दायित्व भी हम सबका ही है।

गाँवों की जमीन से जुड़े लेखकों की सीधी परम्परा प्रेमचंद से सम्बन्द्ध दिखाई देती है।

समय की करवटों के साथ तपी जमीन की दरारों के लिए कौन—कौन लोग जिम्मेदार रहे, जमीन किस तरह से मेहनतकशों की मुट्ठियों से रेत सी झरकर उनका अंश नहीं बन सकी, जिन्होने अनाज उपजाया, उन्हें भूखे ही सोना पड़ा, वे हमेशा शोषण का शिकार रहे, शक्तियों के चेहरे बदलते रहे, श्रीलाल शुक्ल ने भारतीय जीवन की इस विसंगतिपूर्ण सच्चाई को निर्ममता से प्रकट किया है और क्षोभ व्यक्त किया है कि इसे गांधीवादी सर्वोदयी समर्पित सिद्धान्तवादी तथाकथित नेता भी अपने अनैतिक संगी—साथी के बल पर नहीं बचा सके। अपने युग की सच्चाई का श्रीलाल शुक्ल ने बहुत स्पष्ट और खुला विश्लेषण हमारे सामने रखा है। कथा लेखन की सारी जटिलताओं से स्वयं को बचाते हुए जटिल चरित्रों के रहस्य को उन्होंने उद्घाटित किया है।

आज एक खास वर्ग में "दीवार में एक खिड़की रहती थी," "खिलेगा तो देखोगे", 'नर—नारी' जैसे उपन्यासों की चर्चा जरूर हो रही है किन्तु इन उपन्यासों का कथ्य कलावादी प्रयोगों की अतिशयता के चलते निष्प्रभ सा पड़ गया है। किसी भी लेखक के लिए आखिरकार कलात्मक सरोकारों से ज्यादा सामाजिक सरोकारों की अहमियत होनी चाहिए। श्रीलाल शुक्ल का यह उपन्यास एक सामाजिक अभियान की विफलता रेखांकित करने वाला एक ऐसा महाआख्यान बन गया है जिसकी जड़ें अंततः समाज में हैं और सच तो यह है कि यह नई सदी की औपन्यासिक यात्रा का प्रस्थान बिन्दु है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

- सूनी घाटी का सूरज – श्री लाल शुक्ल – राजकमल प्रकाशन
- बिस्रामपुर का संत – श्री लाल शुक्ल – राजकमल प्रकाशन
- 3मकान – श्री लाल शुक्ल – राजकमल प्रकाशन
- आदमी का जहर – श्री लाल शुक्ल – राजकमल प्रकाशन
- अज्ञातवास – श्री लाल शुक्ल – राजकमल प्रकाशन
- राग—दरबारी – श्री लाल शुक्ल – राजकमल प्रकाशन
- राग—दरबारी कृति से साक्षात्कार—डॉ. चन्द्रप्रकाश मिश्र— संजय प्रकाशनए दिल्ली
- हिन्दी उपन्यासों के असामान्य चरित्र – डॉ. सुजाता – साहित्य प्रकाशन, दिल्ली
- फ्रायड मनोविश्लेषण —सिंगमड फ्रायड —राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
- संस्कृत सूक्तियों और लोकोक्तियों – डॉ. वेदव्रत —शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

Copyright © 2013. Luxmi Gupta. This is an open access refereed article distributed under the Creative Common Attribution License which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.